R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-17, अङ्क-11 नवम्बर 2018 1

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ०प्र०) का
मासिक मुख-समाचार पत्र

मङ्गलायतन

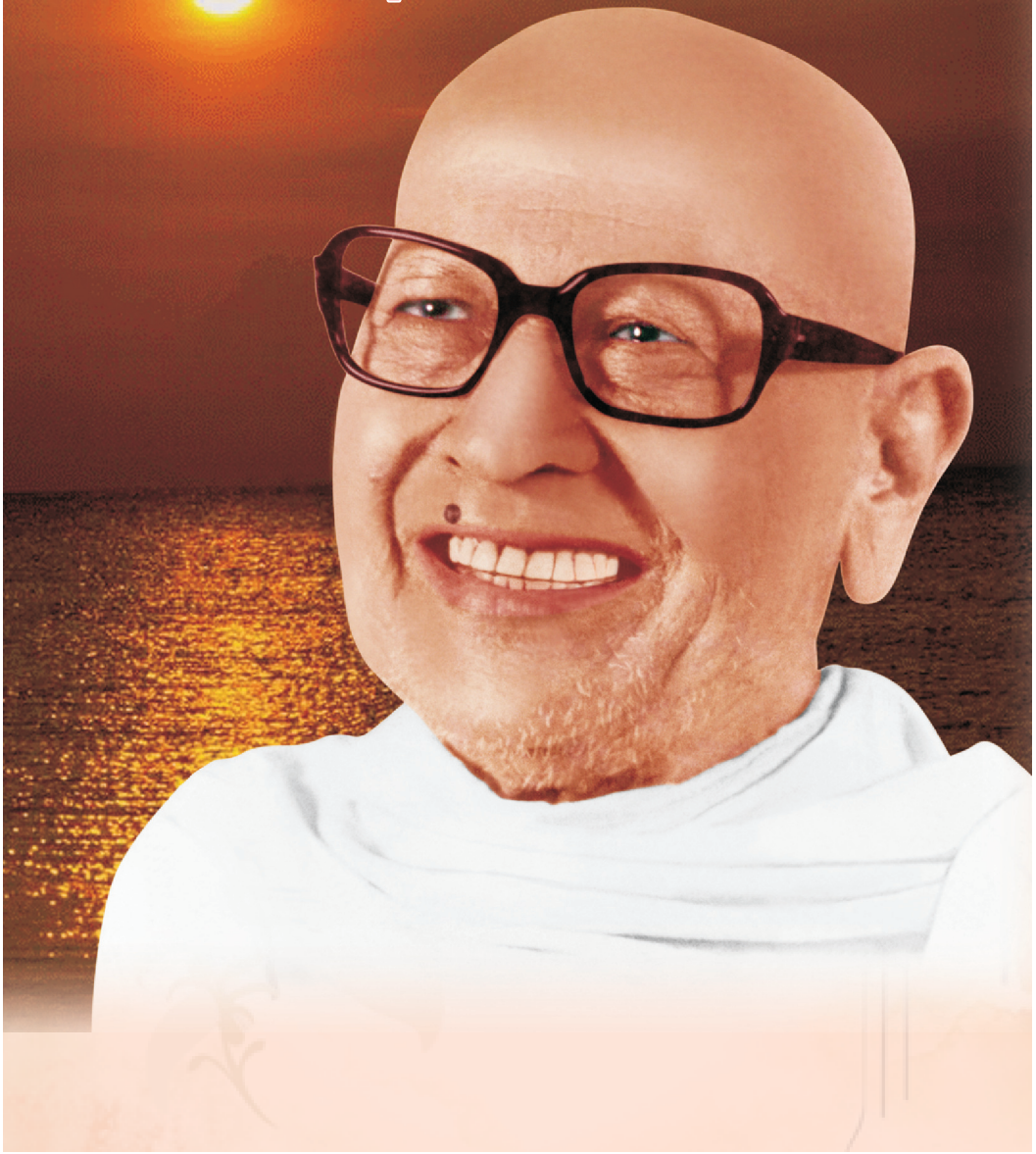

श्री दिगम्बर जैन दिव्य देशना ट्रस्ट दिल्ली

(धार्मिक एवं सामाजिक चेतना का उपक्रम)

सद्धर्मप्रेमी बन्धुवर सादर जयजिनेन्द्र

आपको जानकर प्रसन्नता होगी देश की राजधानी दिल्ली में विगत पाँच वर्षों से, दिव्य देशना ट्रस्ट, सामाजिक विकास एवं धार्मिक क्षेत्र में निरन्तर अपना कार्य कर रहा है।

ट्रस्ट के बढ़ते चरणों द्वारा दिल्ली क्षेत्र एवं राष्ट्रीय स्तर पर यह ट्रस्ट—शिक्षा, स्वास्थ्य, वृद्ध सेवा, बाल संस्कार एवं धार्मिक क्षेत्र में अपनी सेवाएँ निरन्तर प्रदान कर रहा है।

हमारा उद्देश्य विशुद्ध रूप से सामाजिक एवं धार्मिक उत्थान है। समाज के आर्थिक वर्ग से कमजोर बच्चों को शिक्षा हेतु सहयोग प्रदान करना एवं वृद्धजनों, अस्वस्थजनों को चिकित्सा सहयोग करके संबल प्रदान करना है।

हमारी मुख्य योजनाएँ

❀ पाठशालाओं का आयोजन ❀ विधानों का आयोजन ❀ आध्यात्मिक भजन सन्ध्या ❀ ज्ञानगोष्ठी का आयोजन ❀ सत्साहित्य प्रकाशन ❀ बाल एवं युवा संस्कार शिविर ❀ सरस्वती कण्ठपाठ योजना ❀ ज्ञानचक्षु योजना ❀ छात्रवृत्ति योजना ❀ वृद्ध सेवा सुरक्षा ❀ चिकित्सा हेतु सहयोग ❀ देश भर में प्राकृतिकआपदा में सहयोग ❀ नैतिक संस्कार ❀ युवाओं में सदाचार

आईये हमारे इस लौकिक एवं पारलौकिक, धार्मिक एवं सामाजिक संचेतना से जुड़कर नवनिर्माण में सहयोगी बनें।

मुख्य परामर्शदाता
डॉ. हुकमचंद भारिल्ल, जयपुर
श्री पवन जैन, अलीगढ़

परम शिरोमणि संरक्षक
श्री त्रिलोकचन्द जैन, भारत नगर

अध्यक्ष
श्री अजितप्रसाद जैन

उपाध्यक्ष
श्रीमती सुशीला जैन

सचिव
श्री आदीश जैन

उपसचिव
वैभव जैन

कोषाध्यक्ष
दिनेश जैन

ट्रस्टीगण
श्रीमती स्वाती जैन
श्रीमती प्रिया जैन

सलाहकार
पण्डित संजय शास्त्री
मोबा. 9897069969

संयोजक
पण्डित नवीन शास्त्री
मोबा. 9669976366

सह संयोजक
पण्डित सुरेन्द्र शास्त्री
मोबा. 9555810810

-: सम्पर्कसूत्र :-

22 ए / 9, पाम हाउस, राजपुर रोड, सिविल लाईन, दिल्ली-54
मोबा . 9669976366, 9555810810 email : divyadeshnatrust@gmail.com

मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-18, अङ्क-11 (वी.नि.सं. 2544) नवम्बर 2018

स्वारथ के जग-जन हितू, बिन स्वारथ तज देत।
नीच ऊँच निरखैं न गुरु, जीव-जात तैं होत॥

ब्योंत परै हित करत हैं, तात मात सुत भ्रात।
सदा सर्वदा हित करै, गुरु के मुख की बात॥

गुरु समान संसार में, मात पिता सुत नाहिं।
गुरु तौ तारै सर्वथा, ए बोरैं भव माहिं॥

गुरु उपदेस लहै बिना, आप कुसल ह्वै जात।
ते अजान क्यों टारि हैं, करी चतुर की घात॥

जहाँ तहाँ मिलि जात हैं, संपति तिय सुत भ्रात।
बड़े भाग तैं अति कठिन, सुगुरु कहीं मिल जात॥

पुस्तक बाँची इक-गुनी, गुरु-मुख गुनी हजार।
तातैं बड़े तलास तैं, सुनिजे वचन उचार॥

गुरु वानी अमृत झरत, पी लीनीं छिन माहिं।
अमर भया ततखिन सु तौ, फिर दुख पावै नाहिं॥

भली भई नर-गति मिली, सुनै सुगुरु के बैन।
दाह मिट्या उर का अबै, पाय लई चित चैन॥

क्रोधवचन गुरु का जदपि, तदपि सुखाँ-कर धाम।
जैसे भानु दुपहर का, सीतलता परिणाम॥

— **कविवर बुधजन,** बुधजन-सतसई

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़
सम्पादक
पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून
सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़
पण्डित देवेन्द्र जैन, बिजौलियां

इस अङ्क के प्रकाशन में
सहयोग-
स्व० श्री शीतलप्रसाद
शकुन्तलादेवी जैन
C/o. आजाद ट्रेडिंग कम्पनी
जैन मन्दिर के नीचे,
लाल कुँआ,
बुलन्दशहर-203001

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

क्या - कहाँ

निजभावना के हेतु मैंने	5
मोक्षार्थी जीव स्व-कार्य को	8
परम आनंदमय सहज तत्त्व	12
सम्यग्दर्शन के आठ अंग की कथा	16
सम्यग्दृष्टि जीव की दशा की	19
भगवान आचार्यदेव श्री दत्तजी, श्री पूज्यपादस्वामी	28
उपदेश सिद्धांत रत्नमाला	31
समाचार-दर्शन	33

परमेश्वर भागवतशास्त्र नियमसार

'निजभावना के हेतु मैंने नियमसार शास्त्र की रचना की है'

[वीर सं. 2498, पौष शुक्ला-1, नौवीं बार प्रवचनों का प्रारंभ]

आठ बार पूर्ण होकर यह भागवतशास्त्र नौवीं बार प्रारंभ होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं निजभावना के हेतु यह शास्त्र रचता हूँ, और जिनेन्द्र भगवान का उपदेश यथार्थरूप से जानकर मैं इस शास्त्र में मोक्षमार्ग का और उसके फलरूप मोक्ष का कथन करूँगा। इसलिये हे श्रोताओं! तुम भी अपने परम तत्त्व में अत्यंत अंतर्मुख होकर, निज-आत्मा की भावना करना। परमतत्त्व की भावना द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आनंदमार्ग प्रगट होगा, और उसके फलरूप महा आनंदरूप निर्वाण की प्राप्ति होगी।

अनंत ज्ञान-दर्शन जिन्हें प्रगट हो गये हैं—ऐसे परमात्मा महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके इस नियमसार का प्रारंभ होता है।

हे सर्वज्ञ जिन-परमात्मा! मेरे ज्ञान में तेरा अस्तित्व होने से मैं अब अन्य मोही जीवों को क्यों भजूँ? तेरा परम वीतराग सर्वज्ञस्वरूप जैसा है, वैसा मेरे ज्ञान में आ गया है, तो मैं अब तेरी उपस्थिति में अन्य मोहमुग्ध संसारियों को क्यों नमन करूँ? प्रभु! भव को जीतनेवाले तो आप एक ही हैं और मैं भी भव से मुक्त होनेवाले मार्ग को साध रहा हूँ, जिससे आप ही मेरे वंद्य हो। प्रभु! भव का अभाव हो, ऐसा सुंदर मार्ग आपने ही दर्शाया है। आपने स्वयं भव का अभाव करके, भव के नाश का उपाय बतलाया है, जिससे मैं आपको नमस्कार करके इस नियमसार द्वारा निजभावना भाता हूँ।

वीतरागता और सर्वज्ञता द्वारा ही आत्मा की शोभा है। समवसरणादि संयोगों द्वारा भगवान शोभायमान हैं—ऐसा नहीं कहा, परंतु राग-द्वेष-

मोहरहित वीतरागता द्वारा और सर्वज्ञता द्वारा ही भगवान सुशोभित हैं—ऐसा कहा है। अहा, आत्मा की ऐसी पूर्ण पर्याय कैसी महान है! उसको निर्णय में ले तो परिणति रागादि परभावों से छूट जाये और स्वभाव सन्मुख परिणमन प्रगट हो, वही मंगल है।

अहा, ऐसे महान वीतराग भगवान! आप विराजमान हैं, फिर मुझे किसका काम? इतने महान वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को मैंने अपने ज्ञान में स्वीकार किया तो अब मेरा ज्ञान राग में क्यों रुकेगा? वह राग को क्यों भजेगा? वह तो राग से पृथक् होकर परम वीतराग-मार्ग में परिणमन करेगा।

प्रथम गाथा में आचार्यदेव ने वीरनाथ जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके असाधारण मंगल किया है, वे कहते हैं कि अहो! उत्कृष्ट अनंत ज्ञान-दर्शनस्वभाव को प्राप्त भगवान वीर-जिन को नमस्कार करके मैं श्रुतकेवली और केवली भगवंतों द्वारा कहा हुआ यह नियमसार कहूँगा। निमयसार में मोक्ष का मार्ग और उसका फल बतलाऊँगा। समयसार की टीका में भी केवली और श्रुतकेवली दोनों की बात ली है और यहाँ नियमसार में तो मूलसूत्र में ही 'केवलि-सुदकेवली भणिदं' ऐसा स्पष्ट कहा है। विदेहक्षेत्र में केवली और श्रुतकेवली भगवंत साक्षात् विराजमान हैं, उन्हें प्रत्यक्ष देखकर और उनकी वाणी का श्रवण करके आचार्यदेव को इन समयसार, नियमसार आदि परमागमों की रचना की है। वे आत्मा का शुद्धस्वरूप बतलाकर उसके आश्रय से शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग प्रगट कराते हैं।

अहा, इस नियमसार में तो आत्मा में से अनादि-अंधकार को दूर करके ज्ञानप्रकाश प्रगट करे, ऐसी अलौकिक बात है! देखो, आज (पौष शुक्ला-1 को) नियमसार का प्रवचन प्रारंभ किया और बाह्य में अंधकार मिटकर आज प्रकाश प्रारंभ हुआ है। (भारत-पाकिस्तान युद्ध के कारण 'ब्लेक आउट' हुआ था, उसमें विजयपूर्वक आज ब्लेक आउट दूर होकर प्रकाश चालू हुआ और नियमसार भी आज ही प्रारंभ हुआ है।) चैतन्य के पराक्रम में विक्रांत ऐसे वीरनाथ जिन ने चैतन्य की वीरता द्वारा कर्मों पर विजय प्राप्त की और

मोहांधकार दूर करके केवलज्ञान-प्रकाश प्रगट किया। ऐसे विजेता वीरनाथ वर्द्धमान जिनेन्द्र महा देवाधिदेव तीर्थंकर, उनको नमस्कार करते हैं।

नियम अर्थात् रत्नत्रय, उनमें सारभूत ऐसे शुद्ध रत्नत्रय, उनका प्रतिपादन करनेवाला यह शास्त्र सब जीवों को हितकर है। शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग का और उसके फल का कथन जिनशासन में है। देखो, लोग कहते हैं कि जिनशासन में कर्म का और कर्मफल का ही कथन है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जिनशासन में तो शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का तथा उसके फल का ही कथन है और वह मार्ग मैं इस नियमसार में कहूँगा; तथा उसके फलरूप मोक्ष का स्वरूप कहूँगा। भगवंतों ने जो कहा है, वही मैं कहूँगा।

नियमसार अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, वह कैसा है ? कि निज परमात्मतत्त्व में सर्वथा अंतर्मुख है और पर से अत्यंत निरपेक्ष है। व्यवहाररत्नत्रय में तो पर की अपेक्षा है, वे तो रागवाले हैं, वे शुद्ध नहीं हैं, साररूप नहीं हैं। शुद्ध और साररूप तो अपने परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-आचरण हों, वही हैं, वे रागरहित हैं, पर से निरपेक्ष हैं। ऐसे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग जिनशासन में कहा है। आत्मा में अंतर्मुख होकर निजभावना द्वारा अतीन्द्रिय आनंद सहित ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट हो, वही इस शास्त्र का तात्पर्य है। ऐसी निजभावना के हेतु इस नियमसार की रचना है। उसमें आत्मा के परम शुद्ध स्वभाव की भावना का अद्‌भुत-अलौकिक वर्णन है। वह भावना अर्थात् अंतर्मुख परिणति करने योग्य है।

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-9 (जनवरी-1972), वर्ष-27]

क्षमारूपी सुदृढ ढाल

दुष्ट जीवों द्वारा चाहे जितना उपद्रव हो, परंतु जिन्हें कभी क्रोध उत्पन्न नहीं होता, ऐसे क्षमावन्त धर्मात्माओं का वे दुष्ट जीव कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। क्षमारूपी उत्तम ढाल के सामने चाहे जैसे उपद्रव का प्रहार व्यर्थ जाता है। इसलिये आत्मशुद्धि की सिद्धि के लिये सदा उत्तम क्षमा धारण करके, शत्रु पर भी क्रोध नहीं करना।—यह उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है।

मोक्षार्थी जीव स्व-कार्य को किसप्रकार साधता है ?

[नियमसार गाथा 155 से 158 पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से : मार्गशीर्ष शुक्ला 1 से 5]

हे भव्य ! शुद्धनिश्चयस्वरूप परमात्मतत्त्व का ध्यान महा आनंदरूप है, और ऐसे परमात्मध्यान को ही जिनभगवान ने मोक्ष के लिए आवश्यक क्रिया कहा है, मोक्ष के लिए ऐसे उत्तम स्वकार्य को निरंतर साधना।— किस प्रकार साधना ? सो कहते हैं।

सर्व प्रथम स्वभाव और परभाव की भिन्नता के अभ्यासरूप भेदज्ञान द्वारा मोक्ष के कारणरूप स्वभाव-क्रिया को, सत्-क्रिया को स्पष्टरूप से जानना। राग से पृथक् ऐसी शुद्धभावरूप क्रिया ही मोक्ष के कारणरूप क्रिया है, अर्थात् परमात्मतत्त्व में परिणति की एकाग्रता मोक्ष की सत्-क्रिया है। अन्य कोई शुभाशुभ क्रिया मोक्ष का कारण नहीं;—ऐसा भलीभाँति जानकर मुमुक्षु को अपने एकत्व में रहकर स्वकार्य को साधना चाहिए। चौथे गुणस्थान से ऐसी साधना प्रारंभ होती है।

आनंदधाम ऐसे स्वतत्त्व की साधना में लीन मुनियों के तो लोगों के संग की आसक्ति छूट गई है, और चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी सर्व बाह्य संग की प्रतीति छूटकर अपने स्वतत्त्व का ही प्रेम है, तथा उसी को साधने में वह तत्पर है।

अहा, मेरा आत्मा ऐसा महान तत्त्व है कि जिसमें से मात्र शांति ही प्रगट होती है। उसमें एकाग्र होकर मैं एकाकी अपनी शांति का वेदन करता हूँ, उसमें जगत के किसी अन्य संग का मुझे क्या काम ? मेरी शांति कहीं पर के संग से नहीं आती, परसंग रहित, अकेले स्व में रहकर मैं अपनी शांति का वेदन करता हूँ। मेरी पर्याय अंतर की ओर उन्मुख होकर अपने शुद्धतत्त्व का ही संग करती है—एकता करती है; अपने द्रव्य और पर्याय के भेद में मैं नहीं रुकता। पर के संगरहित और द्वैत के विकल्परहित, एकत्व में लीन एकाकी होकर मैं अपनी मोक्षसुख को साधता हूँ—यही मेरा कार्य है।

इस प्रकार स्वतत्त्व को और उसमें एकाग्र-पर्यायरूप सत्क्रिया को जानकर सर्वसंग से पार ऐसे एकत्व चैतन्य के लक्ष्य से एकाकी होकर मौनरूप से स्वकार्य को साधना। कोई अज्ञानी निंदा करे—ईर्षा करे, तथापि अपनी साधना में भंग करना नहीं, और अपनी अंतर्मुख परिणति को छिन्न-भिन्न न होने देना तथा लोकसंबंधी संकल्प-विकल्पों को एक ओर रखकर अपना कार्य अपने में साधना। अरे, मेरे अलौकिक अचिंत्य चैतन्यतत्त्व की अनुभूति के समक्ष यह लोक तो तृण-समान प्रतीत होता है! संसारी जीव ऐसे चैतन्य को नहीं देखते, फिर उनके वचन का क्या मूल्य? चैतन्य का कार्य क्या, चैतन्य की वास्तविक क्रिया क्या? उसमें कैसी अकषाय शांति है? उसकी जिसे खबर नहीं, ऐसे मूर्ख जीव कदाचित् उनकी निंदा करें, तथापि धर्मी मुमुक्षु जीव आत्मा को साधनेरूप निजकार्य को नहीं छोड़ते। अहा, मेरी पर्याय अंतरतत्त्व में प्रवेश करके मोक्षसुख की साधना कर ही रही है, ऐसा महान कार्य मेरी पर्याय में सध रहा हो, वहाँ जगत की परवाह क्या? जगत की स्पृहा छोड़कर आत्मा के एकत्व में आया, तब तो ऐसे सम्यक्त्वादिरूप महान कार्य हुआ है। अब धर्मी जीव लोकभय से उसमें भंग नहीं पड़ने देता।

भाई, मोक्ष की क्रिया तो पर्याय है, और वह पर्याय अंतर के शुद्धतत्त्व के आश्रित है। मोक्ष की सच्ची क्रिया तो शुद्ध पर्याय है और उस पर्यायरूप आत्मा स्वयं होता है, उसमें दूसरे का संग नहीं है, वचनविकल्प नहीं है, मात्र अपने परमात्मतत्त्व का ही ध्यान है। ऐसी सत्य-क्रिया को जानकर हे मुमुक्षु! तू संसार से निरपेक्ष, अकेला ही उसे निरंतर साधना। जगत उसे जाने या न जाने, प्रशंसा करे या निंदा, उसे देखने को मत खड़ा रहना, परंतु परम आनंदभाव से उल्लासमान अपने तत्त्व की ओर उन्मुख होकर उसी की साधना करना। आत्मा को साधने में लोकभय नहीं रखना।

इस जगत में शाश्वत परम सुख प्रदान करनेवाला अपना परम चैतन्यतत्त्व ही है, इसके अतिरिक्त जितने प्रशस्त-अप्रशस्त विकल्प हैं, वे

सब संसार-दुःख के ही मूल हैं। बाह्य भाव या लोकसंग से स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता। अनेक प्रकार के विचित्र जीव इस संसार में हैं, उनके साथ वचन-विवाद करना ठीक नहीं है। महान भाग्योदय से जिनमार्ग को प्राप्त करके, उसमें कहे गये परमात्मतत्त्व को स्वयं अकेले-अकेले अपने अंतर में साध लेने जैसा है। जिस तत्त्व में प्रवेश करने से शांति का वेदन हो, ऐसा तो एक निजतत्त्व ही है; जो सदैव महा आनंद प्रदान करनेवाला है। हे जीव! ऐसे तत्त्व की गहरायी में उतरकर तू उसे साध... उसी का अनुभव कर। लोक के किसी कल्पनाजाल का उसमें प्रवेश नहीं है।

द्रव्य-गुण-पर्यायरूप प्रत्येक वस्तु भगवान सर्वज्ञदेव के ही शासन में कही गई हैं। अन्य कोई यथार्थ वस्तुस्वरूप को नहीं जान सके। इसलिये हे भाई! महा भाग्य से सर्वज्ञ के मार्ग को प्राप्त करके तू अपने स्वाधीन द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, जगत से निस्पृह होकर एकाकी आत्म-आनंद को साधना। दुःखपर्याय छोड़कर सुखपर्यायरूप होना है, तो सुखरूप कौन होगा? तू ही अपने द्रव्य-गुण के सामर्थ्य से सुखपर्यायरूप होगा, द्रव्य-गुणरूप त्रिकाल रहकर आत्मा स्वयं अंतरोन्मुखता द्वारा सुख-पर्यायरूप परिणमन करता है। द्रव्य-गुण-पर्याय को न माने तो ऐसा कार्य नहीं हो सकता। जगत के जीव तो ऐसे तत्त्व को नहीं जानते, ज्ञानी की अंतरदशा को नहीं पहचानते, इसलिए वे तो अज्ञानवश सत् की निंदा करते हैं; आरोप लगाते हैं, ईर्षा करते हैं, लेकिन साधक जीव उसकी परवाह नहीं करता; वह तो जानता है कि अरे, सुख के लिए हमें जगत से क्या प्रयोजन है? अपने सुख के लिए अपने अंतर के द्रव्य-गुणस्वभाव के साथ ही मेरा प्रयोजन है। इसलिए निजस्वभाव के आश्रय से मौनरूप मैं अपने कार्य को साध ही रहा हूँ अर्थात् अपने एकत्व के सुख का मुझे अपने में अनुभव हो ही रहा है। मेरा निजतत्त्व स्वयं ही शाश्वत सुखदायक है, उसी का मैं आलंबन कर रहा हूँ, फिर अन्य कोई निंदा करता है तो करे, उसका मुझे भय नहीं है, प्रशंसा करे तो उसकी स्पृहा नहीं है।

अहा, देखो तो सही, जैनशासन में ऐसा निरपेक्ष, मात्र आत्मा का ही अवलंबन लेने वाला मोक्षमार्ग है। ऐसे जैनशासन को प्राप्त करके स्वयं अपने कार्य को साध लेना चाहिए, अन्य जीवों के साथ वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। जगत तो विचित्र जीवों का समूह है, उसमें सभी जीव ऐसे गंभीर चैतन्यतत्त्व को समझ लें—यह तो असंभव है; कोई विरले जीव ही चैतन्यतत्त्व का अनुभव करते हैं, इसलिए तू लौकिक जीवों का संग छोड़कर अंतर में अपने ज्ञान-निधान का उपभोग करना। अपने सहज तत्त्व की आराधना में तू अछिन्न रहना; आनंद से उसका आराधन करना। जगत के भय से तू अपनी आराधना से चलित नहीं होना। हे मुमुक्षु! निर्विकल्प होकर अपनी परिणति को परम आनंदमय अपने सहज तत्त्व में लगाना।

'आत्मप्रवाद' अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले जो शास्त्र हैं, उनमें कहे गये परमात्मस्वरूप को जानकर जो मुमुक्षु स्वयं आत्मज्ञानरूप परिणमित हुआ है—ऐसा परम आत्मज्ञानी जीव लोकनिंदा के भय को छोड़ देता है। लोग चाहे जो कहें, निंदा करें, तिरस्कार करें, यह सब तो संसार में चलता ही है, उसमें मुझे क्या? मैं तो अपने परमात्मतत्त्व के शाश्वत सुख को अपने में साध रहा हूँ। ऐसे परमात्मतत्त्व को न जाननेवाले पशु समान जीव चाहे कुछ बोलें, उनकी बोली को मूल्य क्या? मेरे चैतन्यसुख के समक्ष दुनियाँ तो तृणतुल्य लगती है। इस प्रकार जिसने अंतर में परम चैतन्यतत्त्व के रस का आस्वादन किया है, उस मुमुक्षु को बाह्यविकल्प या लौकिक संग रुचिकर नहीं लगता; उसकी परिणति अपने अंतर-आत्मतत्त्व के सिवा अन्यत्र कहीं एकाग्र नहीं होती; अन्यत्र कहीं उसे सुख प्रतीत नहीं होता। अरे, मेरे चैतन्यसुख को जगत की अपेक्षा ही नहीं है, फिर उसका भय कैसा? इस प्रकार निर्भयरूप से, जगत से निरपेक्ष होकर धर्मी अपने परमतत्त्व को साधता है। अरे, संसार को प्रसन्न रखने के लिए मैं कुछ नहीं करता, मैं तो अपने आत्मा की प्रसन्नता के लिए अर्थात् आत्मानंद का वेदन करने के लिए, लोकसंग छोड़कर एकाकी चैतन्य के एकत्व को साध रहा हूँ। [आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-9 (जनवरी-1972), वर्ष-27]

परम आनंदमय सहज तत्त्व को साधने की रीति

[श्री नियमसार, गाथा 115 से 118 पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से]

अंतर में अकेले अपने गंभीर चैतन्यतत्त्व की साधना ही मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है, परंतु लोक के साथ वाद-विवाद कर्तव्य नहीं है। स्वयं अपना कार्य कर लेने जैसा है। दूसरों को समझाने या जैनधर्म की प्रभावना के लिए भी संकल्प-विकल्प करने में अटकना, वह कहीं मुमुक्षु का कर्तव्य नहीं है; मुमुक्षु का कर्तव्य तो विकल्पों से पार होकर बाह्य संगरहित अकेले चैतन्य को अंतर में साधना वह है; ऐसी साधना वही मोक्ष के लिए कर्तव्य है। ऐसी साधना करते-करते बीच में राग की भूमिका में व्यवहार-प्रभावना आदि सहज ही हो जाते हैं, परंतु साधक को उस राग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं है; राग की उमंग नहीं है; उसे तो मोक्ष का कारणभूत शुद्धरत्नत्रयस्वरूप स्वकार्य को साधने की ही रुचि है, उसी में तत्परता है। धर्मी जीव अपने सहज तत्त्व की आराधना किस प्रकार करता है, उसकी यह बात चलती है:—

निधि पा, मनुज तत्फल वतन में, गुप्त रह ज्यों भोगता,
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी ज्ञाननिधि को भोगता॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य पहले दरिद्र हो और परदेश जाकर वहाँ भाग्योदय से निधि प्राप्त करके पश्चात् परदेश छोड़कर अपने वतन में रहकर अकेला गुप्तरूप से उस निधि का उपभोग करता है; उसी प्रकार सहज ज्ञानस्वरूप जीव अपने स्वरूप को भूलकर अनादिकाल से संसार में भटकता दु:खी हुआ; वह जीव कभी सहज वैराग्यवन्त होकर श्रीगुरु की परमभक्ति द्वारा, उन्होंने जैसा परमस्वभाव कहा, वैसा लक्षगत करके, अपना सहज ज्ञाननिधि को प्राप्त किया, उसके सम्यक्त्वादि गुण की पवित्रता का उदय हुआ और अंतर में निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-शांति में अपना परम आनंदमय ज्ञाननिधान अपने में ही प्राप्त किया... अहा! मैं तो ऐसे परमशांत चैतन्य निधान का स्वामी हूँ... ऐसी प्रतीति हुई। अपनी निधि को गुरु के

प्रताप से अपने में देखा।—इस प्रकार सहज परमतत्त्वज्ञानी हुआ यह जीव अपनी सहज ज्ञाननिधि को अपने स्वरूप में गुप्तरूप से अकेला-अकेला भोगता है। गंभीर चैतन्यनिधान के उपभोग में मग्न वह जीव अज्ञानी-लौकिकजनों के संग को ध्यान में विघ्न का कारण मानकर छोड़ता है।

अहा, मेरे आत्मा के परमगुण निर्मलरूप से उदित हुए, अनंत गुणों के निधान निर्मलपर्यायरूप से खिल उठे; ऐसे निधान मुझमें भरे हैं, फिर जगत के समक्ष क्या देखना? ज्ञानी के अंतर में चैतन्य के निधान भरे हैं, उनकी जगत को कहाँ खबर है? जगत को अपने निधान की भी खबर नहीं है और ज्ञानी के निधान को भी वह नहीं जानता। अरे, जिन्हें अपने स्वरूप की खबर नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीवों के संग का मुझे क्या काम? मैंने तो जगत से विरक्त सहज वैराग्य सम्पत्तिवान होकर अपनी परिणति को अंतर्मुख करके अपनी सहज ज्ञाननिधि को प्राप्त कर लिया है। श्रीगुरु ने भी यही बतलाया है कि विकल्प से पार होकर अंतर में अपने ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करो।—इस प्रकार ज्ञानस्वभावोन्मुख होना, वही ज्ञानी धर्मात्मा की सच्ची सेवा है। ऐसे ज्ञान की श्रद्धा बिना ज्ञानी की ज्ञानचेतना को नहीं पहिचाना जा सकता अर्थात् ज्ञानी की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। ज्ञानी के ज्ञान की पहिचान बिना, मात्र शरीर की सेवा करे, उसमें तो शुभभाव होगा, परंतु उससे ज्ञान निधान प्रगट नहीं होता। ज्ञाननिधान तो तभी प्रगट होता है, जब ज्ञानी द्वारा बतलाये गये अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करे।

राग के रस से पृथक् मात्र ज्ञानरस का पिण्ड, सो आत्मा है; उसकी सन्मुखता करने से प्रतीति हुई कि—अहो! ऐसे अनंत गुण के निधान से पूर्ण, आनंद से पूर्ण, शांति से पूर्ण—ऐसा मैं हूँ। ऐसे चैतन्य की प्रतीति होने पर उसी का रस रहता है और परसंग का रस छूट जाता है; राग का रस उड़ जाता है, मात्र चैतन्यरस के निधान का ही परम प्रीतिपूर्वक निजगृह में बैठा-बैठा गुप्तरूप से उपभोग करता है। अहा, उसके अंतर्वेदन का क्या कहना! लोग उसे कहाँ से देख सकेंगे? ज्ञानी के गुप्त चैतन्यनिधान को जगत देख नहीं

सकता... परंतु जगत को बतलाने का काम भी क्या है ? जगत न देखे, उससे क्या ? मैं तो अपने निधान का अपने में प्रगटरूप अनुभव कर ही रहा हूँ। —इस प्रकार धर्मी नि:शंकरूप से अपने गुप्त निधान का अपने में उपभोग करता है, उसकी रक्षा करता है। चैतन्य के अपार निधान के समक्ष जगत की विभूति को वह तृणवत् देखता है।—इस प्रकार मुमुक्षु को जगत से असंग होकर अपने आनंदनिधान को ही साधना योग्य है, दूसरों के लिए रुकना उचित नहीं; दूसरों के संग से तो चित्त चंचल होगा, आकुलता होगी, जिससे ध्यान में विघ्न आयेगा। इसलिए चैतन्य के आनंदमय ध्यान की सिद्धि हेतु मुमुक्षु जीव परसंग छोड़ता है और गुप्तरूप से अकेले अपने ज्ञान की रक्षा करके स्वकार्य को साधता है; विपरीत जनों के संग से दूर, अपने में लीन होकर गंभीर तत्त्वज्ञान में रहता है, जिसमें किसी विकल्प का भी संग नहीं है।

अहा, जिसमें सर्वज्ञशक्ति, अतीन्द्रिय आनंद, निर्विकल्प शांति—ऐसे अनंत चैतन्यनिधान स्पष्ट दिखाई देते हैं, ऐसे अपने गुप्त चैतन्य-निधान को पाकर हे ज्ञानी! उसका तू अपने में ही उपभोग करना... अपने अमूल्य ज्ञाननिधान की रक्षा करना। परमतत्त्व की जो अपूर्व श्रद्धा-ज्ञान-शांति प्रगट हुए हैं, उनकी रक्षा करना अर्थात् किसी भी प्रसंग पर उनमें विपरीतता नहीं आने देना। जगत तेरी बात न माने, मिथ्या कहे, विरोध करे, निन्दा करे अथवा रोगादि कोई भी प्रतिकूलता आये, तथापि अपनी श्रद्धा-ज्ञान-शांति को छोड़ना नहीं; अमूल्य निधान की भाँति उनकी रक्षा करना। अपनी श्रद्धा-ज्ञान की रक्षा के लिए, हे मुमुक्षु! तू संसार के अनेक प्रकार के रागी-द्वेषी-अज्ञानी जीवों के संग से दूर रहना; जगत के संग से अपनी आत्मशांति में भंग नहीं पड़ने देना; जगत से विरक्तरूप अपने स्वकार्य को साधने में तत्पर रहना। मैं अपने चैतन्यनिधान के सन्मुख परिणमित हुआ हूँ, मेरी पर्याय में वह निधान प्रगट हुआ है, फिर जगत के कोलाहल से मुझे क्या काम ? बाह्य में दूसरों के संग का मुझे क्या प्रयोजन ? मैं तो अपने आत्मा की भावना में उतरकर अपने स्वकार्य को साध रहा हूँ। किसी निर्धन को सोने की खान मिले, इसी प्रकार मुझे अपने परम चैतन्यरत्न की खान मिल गई

है... अपने सम्यक्त्वादि अनंत गुणों की संपत्ति मिल गई है, उसके निकट जगत का क्या मूल्य ?—इस प्रकार चैतन्य संपदा के निकट ज्ञानी जगत को तृणवत् समझकर, आत्म-आराधनारूप स्वकार्य को साधते हैं। हे मुमुक्षु! तुझे भी यही कार्य अवश्य करने योग्य है।

आत्मसाधना के महा आनंद में जगत की ओर क्या देखना ?

अहा, अपने परम आनंद को मैं साध रहा हूँ; आत्मा के इस आनंद में जगत की ओर आकर्षण ही नहीं रहता। जीव चैतन्य की एकाग्रता से बाहर निकले, तब परसंग होता है और चित्त में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह तो जन्म-मरण के रोग का ही कारण है। परसंग अर्थात् पर की ओर का उपयोग, उसमें चित्त चंचल होता है। इसलिए हे मुमुक्षु! बाह्य में परवस्तु होने पर भी उससे परम विरक्त होकर अपने चित्त को शांति से भरपूर चैतन्यतत्त्व में लगा और अपने स्वकार्य को साध। बुद्धि द्वारा अर्थात् भेदज्ञान द्वारा जिसने पर से भिन्न आत्मा का अनुभव किया है—ऐसा ज्ञानी महा आनंदमय चैतन्यतत्त्व में परिणाम को लगाता है और आत्मा के अतिरिक्त सारी दुनिया से अत्यंत उदासीन रहता है। आत्मसाधना के महा आनंद में जगत की ओर क्या देखना!

अहा, आत्मा के परम आनंदरस का जहाँ स्वाद लिया वहाँ जगत के राग का रस क्यों रहेगा ? परोन्मुख वृत्ति में तो क्लेश है, उसमें आनंद का लेश भी नहीं है। अपना स्वतत्त्व लक्ष्य में लेने से अनाकुल शांतरस का वेदन होता है; उसके समक्ष जगत का रस नीरस लगता है। चैतन्यरस का स्वाद लिया, वहाँ कषाय का रस कैसे अच्छा लगेगा ? अरे, चैतन्यतत्त्व के आनंद में शुभविकल्प का बोझा भी सहन नहीं होता। आँख में किरकिरी कदाचित् रह जाये, परंतु चैतन्य के शांतरस में कषाय का कण नहीं रह सकता; शुभराग का कण नहीं रह सकता। ऐसे चैतन्य रस के धाम अपने चैतन्यनिधान को हे मुमुक्षु! तू एकाकी रहकर साधना, उसमें जगत के अन्य किसी की अपेक्षा

शेष पृष्ठ 27 पर...

सम्यग्दर्शन के आठ अंग की कथा

सम्यक्तयुत आचार ही संसार में एक सार है,
जिनने किया आचरण उनको नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिए,
अरु पापियों का हाल सुनकर पाप तजना चाहिए।

(5) उपगूहन-अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा

[पहली नि:शंक अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर की कथा, दूसरी नि:कांक्ष अंग में प्रसिद्ध सती अनंतमती की कथा, तीसरी निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा और चौथी अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवतीरानी की कथा आपने पढ़ी; अब पाँचवीं कथा आप यहाँ पढ़ेंगे।]

पादलिप्तनगर में एक सेठ रहते थे, वे महान जिनभक्त थे; सम्यक्त्व के धारी थे, तथा धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि और दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध थे। पुण्य के प्रताप से वे अपार वैभव-संपन्न थे। उनके सात मंजिलवाले महल के ऊपरी भाग में एक अद्‌भुत चैत्यालय था, जिसमें रत्न से बनी हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, जिसके ऊपर रत्नजड़ित छत्र थे। उन छत्रों में एक नीलम-रत्न अत्यंत मूल्यवान था जो अंधकार में भी जगमगाता रहता था।

अब, सौराष्ट्र के पाटलिपुत्र नगर का राजकुमार—जिसका नाम सुवीर था तथा कुसंग के कारण जो दुराचारी और चोर हो गया था; उसने एकबार सेठ का जिनमंदिर देखा और उसक मन ललचाया—भगवान की भक्ति से नहीं, परंतु मूल्यवान नीलम-रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की कि जो कोई जिनभक्त सेठ के महल में से वह रत्न ले आयेगा, उसे इनाम दिया जाएगा।

सूर्य नाम का एक चोर वह साहसपूर्ण कार्य करने को तैयार हो गया।

उसने कहा—अरे, इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षणभर में ला सकता हूँ, तो... इसमें कौनसी बड़ी बात है !

लेकिन, महल में घुसकर उस रत्न को चुराना कोई सरल बात न थी; वह चोर किसी भी प्रकार सफल न हुआ। अंत में वह एक त्यागी श्रावक का वेष धारण करके सेठ के गाँव में पहुँचा। अपने वाक्य-चातुर्य से, व्रत-उपवास आदि के दिखावे से वह लोगों में प्रसिद्ध होने लगा और उसे धर्मात्मा समझकर जिनभक्त सेठ ने अपने चैत्यालय की देखरेख का काम उसको सौंपा। फिर क्या था; त्यागीजी नील-मणि को देखते ही आनंद-विभोर हो गए... और विचार करने लगे कि कब मौका मिले और मैं इसे लेकर भाग जाऊँ।

इतने में सेठ को दूसरे गाँव जाने का मौका आया और वे उस बनावटी श्रावक को चैत्यालय की देखरेख की सूचनाएँ देकर चले गए। गाँव से कुछ दूर चलकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हुई, सूर्यचोर उठा, उसने नीलमणि रत्न अपने जेब में रखा और भागा; लेकिन नीलमणि का प्रकाश छिपा न रहा; वह तो अंधकार में भी जगमगा रहा था ! इससे चौकीदारों को संदेह हुआ और उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़े। अरे... मंदिर के नीलमणि की चोरी करके चोर भाग रहा है... पकड़ो... पकड़ो... ऐसा चारों ओर कोलाहल मच गया।

जब सूर्यचोर को बचने का कोई उपाय नहीं रहा, तब वह जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, उसी में घुस गया। चौकीदार उसे पकड़ने को पीछे आये। सेठ सब बात समझ गए; कि यह भाई साहब चोर हैं, लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह आदमी चोर है—ऐसा लोगों को पता चलेगा तो धर्म की निंदा होगी—ऐसा विचारकर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को डाँटते हुए कहा—अरे, तुम लोग क्या कर रहे हो ? यह कोई चोर नहीं, यह तो 'सज्जन-धर्मात्मा' हैं। मैंने ही इन्हें नीलमणि लाने के लिए कहा था, तुम लोगों ने इन्हें चोर समझकर व्यर्थ हैरान किया।

सेठ की बात सुनकर चौकीदार शर्मिन्दा होकर वापिस चले गए। और

इस प्रकार एक मूर्ख आदमी की भूल के कारण होनेवाली धर्म की निंदा रुक गई। इसे उपगूहन कहते हैं। जिस प्रकार एक मेढ़क खराब होने से कहीं सारा समुद्र खराब नहीं हो जाता, उसी प्रकार किसी मूर्ख-अज्ञानी मनुष्य द्वारा भूल हो जाने से कहीं पवित्र जैनधर्म मलिन नहीं हो जाता।

जैसे माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, परंतु पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष दिखाई दे तो वह उसे प्रसिद्ध नहीं करती; किंतु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुणों की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म का अपवाद हो, ऐसा नहीं करते, लेकिन जिससे धर्म की प्रभावना हो, वह करते हैं। किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् कोई दोष आ जाए तो उसे गौण करके उसके गुणों की मुख्यता रखते हैं और एकांत में बुलाकर, उन्हें प्रेम से समझाकर, जिस प्रकार उनके दोष दूर हों और धर्म की शोभा बढ़े, वैसा करते हैं।

लोगों के चले जाने के बाद जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्यचोर को एकांत में बुलाकर उलहाना दिया, और कहा— भाई! ऐसा पापकार्य तुझे शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि यदि तू पकड़ा गया होता तो तुझे कितना दुःख होता। अतः इस धंधे को तू छोड़।

वह चोर भी सेठ के उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगते हुए बोला कि हे सेठ! आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो; लोगों के सामने आपने मुझे सज्जन-धर्मात्मा कहा है, तो अब मैं भी चोरी छोड़कर सचमुच सज्जन धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। जैनधर्म महान है, और आप जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों द्वारा वह शोभायमान है।

इस प्रकार सेठ के उपगूहन गुण के द्वारा धर्म की प्रभावना हुई।

बंधुओ! यह कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि साधर्मी के किसी दोष को मुख्य करके धर्म की निंदा हो, वैसा नहीं करना, परंतु प्रेमपूर्वक समझाकर उसे दोषों से छुड़ाना चाहिए; और धर्मात्मा के गुणों को मुख्य करके उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो, वैसा करना चाहिए।

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-9 (जनवरी-1972), वर्ष-27]

सम्यग्दृष्टि जीव की दशा की अद्‌भुत महिमा
आठ मद के अभाव का वर्णन

धनमद अथवा ऋद्धि का मदः—अंतर में अपना चैतन्यवैभव जिसने देखा है, ऐसे धर्मात्मा बाह्यवैभव को अपना नहीं मानते, तो फिर उसका मद कैसा ? समुद्र जैसा पूर्णानंद अपने में तरंगित है, ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, वहाँ अन्य सर्वत्र से मद उड़ जाता है। माता-पिता-धन-शरीर-पुत्र-राजपद-प्रधानपद, यह तो सब कर्मकृत हैं, इनका अभिमान क्या ? जिसने राग और पुण्य से अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा का भिन्न अनुभव किया है, उसे राग या पुण्यफल का अभिमान क्या ? यह तो सब कर्मसामग्री है, उसमें कहीं मेरा धर्म नहीं है। जिन्हें धर्म की प्रतीति हुई है, उन्हें कर्म-सामग्री में अपना क्यों रहेगा ? कर्म-सामग्री द्वारा (पुण्य के फल द्वारा) जिसे अपनी महत्ता प्रतीत होती है, उसे कर्म से भिन्न अपना चैतन्यवैभव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धर्मी जानता है कि यह वैभव मेरा नहीं है, यह तो उपाधि है। मेरे आत्मा का वैभव तो केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय से भरपूर अक्षय-अखंड-अविनाशी है। माता-पिता महान हों या बाह्य में अटूट पुण्य-वैभव हो, उसमें मुझे क्या ? वह तो सब कर्म की सामग्री है; वह मेरी जाति नहीं है; हम तो सिद्ध भगवंतों की जाति के तथा तीर्थंकरों के वंशज हैं; उनके मार्ग पर चलनेवाले हैं। सिद्ध और तीर्थंकर भगवंतों जैसे ही आत्मवैभव के हम स्वामी हैं। हमारा आत्मा चैतन्यदेव है, वही हमारी महानता है। यह चैतन्यदेव स्वयं महिमावंत तथा जगत में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसके अतिरिक्त जगत में अन्य किसी पदार्थ द्वारा हमें अपनी महानता भासित नहीं होती। चैतन्य का ऐश्वर्य जिसने नहीं देखा, वह किसी न किसी पर के बहाने मिठास लेता है। जैसे निबौरी को एकत्र करके ऐसा माने कि मेरे पास कितना वैभव है ! वह तो बालक है, राजा ऐसा नहीं करता; उसी प्रकार बाह्य में पुण्य-वैभव तो निबौरी जैसे कड़वे विकार के फल हैं, बालबुद्धि अज्ञानी उसे अपना वैभव मानता है, परंतु राजा जैसा

सम्यग्दृष्टि जिसने अपने सच्चे चैतन्यनिधान को अपने में देखा है—वह कभी पुण्यफल के द्वारा अपनी महानता नहीं समझता; उसे तो वह धूल के ढ़ेर समान पुद्गलपिंड मानता है।

भरत चक्रवर्ती को छह खंड का राज्य-वैभव था, तथापि वे जानते थे कि हमारे चैतन्य के अखंड वैभव के अतिरिक्त एक रजकण भी हमारा नहीं है। हम उसके स्वामी नहीं हैं। हम छह खंड के स्वामी नहीं है, परन्तु अखंड़ आत्मा की अनुभूति के स्वामी हैं। इस प्रकार वे चैतन्य की अनुभूति में बाह्यवैभव का स्पर्श भी नहीं होने देते थे। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा आत्मसंपदा के अचिंत्य वैभव का स्वसंवेदन जिसने किया, उसे जड़ या विकार के फल का अभिमान कहाँ से रहे ? इस प्रकार धर्मी को धनमद नहीं होता; उसी प्रकार कोई अन्य धर्मात्मा-गुणवान जीव अशुभकर्म के वश दरिद्र हो, तो उसके प्रति उसको अवज्ञा या तिरस्कार बुद्धि नहीं होती। अरे, आत्मा के चैतन्यनिधान के निकट जगत के वैभव को तुच्छ-सड़े हुए तृण समान समझकर, उसे क्षणभर में छोड़कर, चैतन्य के केवलज्ञान-निधान को साधने के लिए अनेक मुमुक्षु जीव मुनि होकर वन में चले गए। अज्ञानी जीव उस धनादि जड़सामग्री के समक्ष अपने सुख की भीख माँगते हैं। ज्ञानी तो उसका त्याग करके अपने चैतन्यसुख की साधना करते हैं। अज्ञानी को पुण्यकर्म के उदय से धनादि सामग्री मिले, वहाँ तो उसे अभिमान हो जाता है कि मैं कितना बड़ा हो गया हूँ! अरे, भाई! अपने इस अभिमान को छोड़ दे और अपने चैतन्यनिधान को देख। आत्मा की चैतन्य-संपदा के सन्मुख तेरी इस जड़ विभूति का क्या मूल्य है ?

देखो तो सही, संतों ने आत्मा के वैभव का कैसा वर्णन किया है! ऐसा वैभव अंतर में है, वह बताया है। ऐसे वैभववाले अपने आत्मा को जहाँ अनुभव में लिया, वहाँ धर्मी को बाह्यधन आदि वैभव का मद नहीं रहता।

बलमदः—यह शरीर ही मैं नहीं हूँ, तो उसके बल का अभिमान कैसा ? मेरा आत्मा अनंत चैतन्यबल का धारक है; उसकी प्रतीति तो हुई है;

उसकी आराधना में ध्यान द्वारा ऐसा एकाग्र होऊँ कि चाहे जैसे उपसर्ग-परिषह आने पर भी चलायमान न होऊँ—ऐसी वीतरागी क्षमा दशा प्रगट करूँ, वही आत्मा का सच्चा बल है। शारीरिक बल कहीं आत्मा को साधने में काम नहीं आता।

यद्यपि तीर्थंकरों को शारीरिक बल भी दूसरों की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है, परंतु अंतर में चैतन्यशक्ति की प्रतीति में वे अपने को देह से भिन्न जानते हैं। भरत और बाहुबली दोनों भाई आपस में लड़े, तथापि किसी को अपने शरीर का मद नहीं था। दोनों के अंतर में भेदज्ञान का कार्य चल रहा था। युद्ध कि क्रिया हुई, इसलिए देह के साथ एकत्वबुद्धि होगी—ऐसा रंचमात्र भी नहीं है। सहज अभिमान आया, लेकिन अंतर की चैतन्यपरिणति उस अभिमान से भिन्न ही कार्य कर रही थी; उसे ज्ञानी ही पहिचानते हैं।

भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; उनके बल में जब अमुक सैनिकों ने शंका की, तब बल-प्रदर्शन का विकल्प उठते ही भरत राजा ने अपनी अंगुली टेढ़ी कर दी, और सैनिकों से कहा कि मेरी यह अंगुली टेढ़ी हो गयी है, इसे सीधी कर दो। सैनिकों ने बहुत जोर लगाया, परंतु अंगुली को सीधा न कर सके। अंत में एक साँकल अंगुली से साथ बाँधकर छियानवे करोड़ पैदल सेना ने उसे खींचा। चक्रवर्ती ने तर्जनी अंगुली का जरा सा झटका लगाया कि सारे सैनिक पृथ्वी पर गिर पड़े—ऐसा तो उनका शारीरिक बल था! और इस प्रकार का विकल्प भी आया, लेकिन शरीर और विकल्प दोनों से भिन्न ऐसी अनंत चैतन्यशक्ति से संपन्न ही वह अपने को देखते हैं। ऐसी चैतन्यदृष्टि में उन्हें शरीर का मद रंचमात्र नहीं है।

ऐसा ही एक प्रसंग नेमिनाथ तीर्थंकर और श्रीकृष्ण के बीच बना था। यादवों की सभा में एकबार शरीर-बल की चर्चा चल उठी। नेमकुमार और श्रीकृष्ण दोनों चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण बड़े और नेमकुमार छोटे थे; परंतु छोटा फिर भी सिंह! छोटे परंतु तीर्थंकर थे! वे भी सभा में गंभीर रूप से बैठे थे। सभा में किसी ने श्रीकृष्ण के बल की प्रशंसा की, किसी ने नेमकुमार के

बल की। किसका बल अधिक है, उसकी परीक्षा करने का निर्णय हुआ। उसी समय नेमकुमार ने तर्जनी अंगुली बढ़ाकर कहा कि यदि आपमें बल हो तो इसे मोड़ दो! श्रीकृष्ण तो उस अंकुली पर तुल गए, तथापि उसे मोड़ न सके।—कैसा अंचित्य शरीर-बल! तथापि उस समय आत्मा को उससे सर्वथा भिन्न ही जानते थे। सम्यक्त्व में आठों मद का अभाव था। अस्थिरता का विकल्प आया, परंतु उसमें सम्यक्त्व संबंधी कोई दोष न था। ऐसे सम्यक्त्व को पहिचानकर उसकी आराधना करने का उपदेश है।

धर्मात्मा को प्राकृतिक रूप से पुण्य का वैभव होता है, लेकिन वह जानता है कि इस पुण्य के वैभव में हम नहीं है। हमारे चैतन्य का वैभव इससे निराला है। हमारा सामर्थ्य हमारे अंतर में समाया है। हमारे चैतन्य का बल कहीं शरीर में नहीं है। ऐसी प्रतीति में धर्मी को बल का मद नहीं होता। शरीर से जो धर्म होना मानते हैं, उन्हें मद हुए बिना नहीं रहता।

तपमदः—स्वयं कोई उपवास, स्वाध्यायादि तप करता हो और अन्य धर्मात्मा को उपवासादि की विशेषता न हो, वहाँ धर्मी जीव अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा मानकर तपमद नहीं करता। अहा, सच्चे तपस्वी तो वे शुद्धोपयोगी मुनि भगवंत हैं कि जो चैतन्य के उग्र प्रतपन द्वारा वीतरागभाव प्रगट करके कर्मों को भस्म कर देते हैं, मैं तो अभी प्रमाद में ही पड़ा हूँ। शरीर की निर्बलता से कोई उपवासादि तप न कर सकता हो लेकिन ज्ञान-ध्यान की उग्रता द्वारा आत्मा की शुद्धता की वृद्धि करता हो, वह धन्य है! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को तप का मद नहीं होता। मद, वह तो कषाय है और तप, वह कषाय नष्ट करने के लिए है।

ऐश्वर्यमदः—अर्थात् पूज्यपने का मद अथवा अधिकार का मद; वह धर्मात्मा को होता नहीं। हम तो सर्वज्ञ के पुत्र हैं। हमारा पद तो सर्वज्ञपद है, अन्य कोई हमारा पद नहीं। केवलज्ञान द्वारा ही हमारी महत्ता है, इसके अतिरिक्त बाह्य में राज्यपद या प्रधानपद द्वारा हमारे आत्मा की महत्ता नहीं—ऐसा जाननेवाले धर्मी को बाह्य महत्ता का मद नहीं होता। पुण्य के

योग से बाह्य महत्ता अधिक हो, परंतु उसके कारण अपने आत्मा की महत्ता धर्मी नहीं मानते।

श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि—'लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो?' यह तो सब संसार का ठाठबाट है; इसमें कहीं आत्मा की शोभा नहीं है। मेरा आत्मा स्वयं सिद्ध परमेश्वर है—उसके समक्ष ऐसी कौन सा ऐश्वर्य या महत्ता है कि जिसका मैं मद करूँ? अरे, राग और राग का फल वह तो सब अपद हैं-अपद हैं। लोग बाह्य पदवी के लिए लालायित रहते हैं; लेकिन धर्मी जानता है कि मेरे चैतन्य के-पद के सन्मुख चक्रवर्तीपद भी तुच्छ प्रतीत होता है। ऐसा चैतन्यपद जिसने प्राप्त किया है (जाना है और अनुभव किया है) वह अन्य किस पद का अभिमान करे? अहा, तीन लोक में सबसे उच्च ऐसा मेरा चैतन्यपद मैंने अपने अंतर में देखा है। अंतर में आनंद की अपूर्व वीणा बजी है। अतीन्द्रिय सुख की तरंगों से चैतन्य-समुद्र उमड़ पड़ा है।—ऐसा आनंदस्वरूप मैं स्वयं हूँ.... आनंद से उच्च जगत में दूसरा क्या है? ऐसी आत्म-अनुभूति के द्वारा धर्मात्मा को जगत के ऐश्वर्य का मोह नष्ट हो गया है, इसलिए उसे कहीं ऐश्वर्य का मद नहीं होता। उच्च अधिकार हों, लाखों-करोड़ों लोगों में पुजता हो, संपूर्ण देश में आज्ञा चलती हो—लेकिन उसके द्वारा धर्मी अपने आत्मा की रंचमात्र भी महानता नहीं मानता। मेरी महानता तो मेरे स्वभाव में ही है, दूसरे मुझे क्या महत्ता देंगे? दूसरों के पास महानता लेने जाना पड़े, ऐसा पराधीन मैं नहीं हूँ। इस प्रकार धर्मी को बड़प्पन का मद नहीं होता; उसी प्रकार अन्य जीव अशुभकर्म के उदय से दरिद्र हो, उसकी अवज्ञा भी नहीं करता। बाह्य ऐश्वर्य हो या न हो, वह तो कर्मकृत (कर्मों का फल) है। उसका स्वामित्व धर्मी को नहीं है। मिथ्यादृष्टि बड़ा राजा हो और सम्यग्दृष्टि उसकी नौकरी करता हो—यह तो सब शुभाशुभ कर्म का खेल है, इनसे धर्मी अपने को दीन नहीं मानता। अपने अक्षय ज्ञानादि अनंत ऐश्वर्य को वह अपने में देखता है—इस प्रकार धर्मी को मद या दीनता का अभाव है।

धर्मात्मा को सम्यक्त्वपूर्वक ऐसे आठ मद का अभाव हुआ है। स्वद्रव्य और परद्रव्य की अत्यंत भिन्नता को जिसने जान लिया है, उसको परवस्तु द्वारा अपना बड़प्पन भासित नहीं होता। माता-पिता-शरीर-रूप-धन आदि जो वस्तुएँ मेरी हैं ही नहीं, उनके द्वारा मेरी महत्ता कैसी ? मेरी महत्ता तो मेरे सम्यक्त्वादि स्वभाव द्वारा ही है। सुंदर शरीर और बाह्य बड़प्पन, वह तो कई बार मिला, उसमें जिसे अपनी शोभा प्रतीत होती है, उसे चैतन्य से शोभायमान ऐसे अपने आत्मा की प्रतीति नहीं है। देह-जाति-रूप-माता-पिता-धन-वैभव-उच्च पदवी यह सब परद्रव्य हैं, इन सबसे अपने आत्मा को सर्वथा भिन्न अनुभव करने के बाद धर्मी को उन पदार्थों के द्वारा अपना बड़प्पन कैसे भासित हो ? इसलिए उसके आठ मद नहीं होते। कोई विकल्प आ भी जाए, तो उसे मलिन जानकर वह भाव छोड़े और दोषरहित शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना करे; ऐसा उपदेश है।

इस प्रकार आठ शंकादि दोष तथा आठ मद सम्यग्दृष्टि को नहीं होते; इसके अतिरिक्त छह अनायतन और तीन मूढ़ता का सेवन भी उसे नहीं होता। अरिहन्त परमात्मा ने जीव का जैसा स्वरूप बतलाया है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागमार्ग बतलाया है, उससे विपरीत कहनेवाले ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को धर्मी जीव सब प्रकार से छोड़ता है। किसी भी प्रकार उसकी अनुमोदना नहीं करता तथा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की सेवा करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवों का साथ भी छोड़ देता है। धर्मबुद्धि से ऐसे जीव का साथ वह नहीं कर सकता, तथा देव संबंधी अनेक मूढ़ताएँ, गुरु संबंधी अनेक मूढ़ताएँ, तथा धर्म संबंधी अनेक मूढ़ताएँ लोगों में प्रचलित हैं, परंतु धर्मी स्वप्न में भी उनका सेवन नहीं करता।

जो धर्म का स्थान नहीं, जिसके पास धर्म का सच्चा उपदेश नहीं, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप जिनमें नहीं, अनेक प्रकार से जो विषय-कषाय राग-द्वेष के पोषक हैं, जिनमें हिंसा-अहिंसा का भी विवेक नहीं, ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म वह धर्म के अनायतन हैं, उनके सेवन से आत्मा का

किंचित्मात्र हित नहीं होता, उनके सेवन से तो सम्यक्त्वादि का घात होता है, और आत्मा का अत्यंत अहित होता है। कुदेवादि का सेवन सम्यग्दृष्टि को तो होता ही नहीं, लेकिन जैन नाम धारण करनेवाले जिज्ञासु को भी ऐसे कुदेवादि का सेवन नहीं होता। वीतरागमार्ग के देव-गुरु-धर्म और उनका सेवन करनेवाले साधर्मी-धर्मात्मा के अतिरिक्त दूसरे का सेवन अहित का कारण जानकर अत्यंत छोड़नेयोग्य है।

सम्यग्दृष्टि, महान अलौकिक आत्मा के अंतरस्वभाव की जिसे प्रतीति हुई है, उसे निश्चय से सम्यक्त्व के साथ व्यवहार भी पच्चीस दोषरहित होता है। आजीविका छूट जाए, धन लुट जाए, देश को छोड़ना पड़े या प्राण जाऐं, तथापि सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी प्रकार के भय से-आशा से-स्नेह से कुधर्म की या कुदेवादि की आराधना नहीं करता। वीतरागी देव-गुरु-धर्म का भक्त हिंसक देव-देवियों को नमन नहीं करता। अहा, अरिहंतदेव का उपासक तो चैतन्य के वीतरागमार्ग पर चलनेवाला है, वह अन्य कुमार्ग का आदर क्यों करेगा? वह कुमार्ग की या उसके सेवक की प्रशंसा नहीं करता, अनुमोदना नहीं करता। कुधर्म खूब फैला हुआ हो, अत: अच्छा है, उसके भक्त अच्छे हैं, उसके शास्त्र-मंदिर अच्छे हैं—ऐसी प्रशंसा धर्मी नहीं करता। कुधर्म के सेवक कोई बड़ा मंदिर बनवाएँ, लाखों रुपया खर्च करके विशाल यज्ञादिक उत्सव करें, वहाँ धर्मी उनकी प्रशंसा भी नहीं करता कि तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है। अरे वीतरागमार्ग से विरुद्ध ऐसा कुमार्ग, जो जगत के जीवों का अहित करनेवाला हो, उसकी प्रशंसा क्या? जिसमें मिथ्यात्व का पोषण हो, उन क्रियाओं को अच्छा कौन कहे? इस प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का तो स्वयं सेवन नहीं करता तथा दूसरे जो सेवन करें, उनकी प्रशंसा भी नहीं करता, परंतु संभव हो तो उपदेश देकर कुमार्ग से छुड़ाता है। धर्मी गृहस्थ राजा को या माता-पिता आदि बड़ों को नमन करे, वह तो लोक-व्यवहार है, उसके साथ कहीं धर्म का संबंध नहीं है, लेकिन धर्म के व्यवहार में वह कुदेव-कुगुरु को कभी नमन नहीं करता।

यह बात तो उनके लिए हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न लेना है, धर्म का सच्चा माल लेना है; तथा जिन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्राप्त कर लिया है, उन्हें उसको संभालने की बात है। सम्यक्त्व में किंचित् भी अतिचार न लगे और शुद्धता हो—इसलिए पच्चीस दोषरहित और आठ गुणसहित सम्यक्त्व की आराधना करनी चाहिए। उसके द्वारा ही जीव का परम हित होता है।

भाई! यह तो अपने हित के लिए सच्चे-झूठे का विवेक करने की बात है। सच क्या और झूठ क्या, इसी की जिसे खबर नहीं, वह क्या लेगा? और क्या छोड़ेगा? अपना हित किस प्रकार करेगा? परीक्षा द्वारा सच्चे-झूठे को पहिचानकर निर्भयरूप से सत्य का स्वीकार करना चाहिए और असत्य का सेवन छोड़ना चाहिए। जगत के साथ मेल रखने या जगत को अच्छा दिखाने के लिए कहीं धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। यह तो अपनी श्रद्धा सच्ची करने की बात है।

वीतरागी देव-गुरु-धर्म का आदर और उससे विपरीत कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्याग, इतना तो सम्यक्त्व की पात्रतारूप प्रथम भूमिका में होना चाहिए। 'त्याग-विराग न चित्त में थाय न तेने ज्ञान'—ऐसा श्रीमद् राजचंद्र ने कहा, उसमें कुदेवादि का त्याग तो पहले ही समझ लेना चाहिए। दूसरे तो अनेक प्रकार के त्याग किये, परंतु कुदेव-कुगुरु के सेवन का त्याग न करे तो उसका रंचमात्र भी हित नहीं होता। और जहाँ राग को धर्म माना, वहाँ वैराग्य कहाँ रहा? अरे, देह से भिन्न मेरा अखंड चैतन्यतत्त्व क्या है और उसका अनुभव कैसा है? उसका सच्चा स्वरूप बतलानेवाले वीतराग सर्वज्ञदेव, रत्नत्रयवंत गुरु और रागरहित धर्म तथा शास्त्र को जो पहिचाने, वह जीव उससे विरुद्ध अन्य किसी को मानता नहीं, नमन नहीं करता और प्रशंसा नहीं करता।

एक ओर कुन्दकुन्दाचार्य जैसे वीतरागी संतों का भक्त कहलाये तथा दूसरी ओर उनसे विरुद्ध कहनेवालों का आदर तथा श्रद्धा करे, तो उसे सत्य का विवेक कहाँ रहा? भाई! वीतरागमार्ग के और वीतरागी संतों के विरोधी

ऐसे कुगुरु के सेवन में तो मिथ्यात्व की पुष्टि तथा तीव्र कषाय के द्वारा आत्मा का बहुत अहित होता है, जिससे उसका निषेध करते हैं। इसमें कहीं किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है, परंतु जीवों की हितबुद्धि ही है। अपनी श्रद्धा स्वच्छ रहे, उसमें दोष न लगे उसकी बात है। सत्यमार्ग से विरुद्ध विकल्प धर्मी कभी आने नहीं देता। मिथ्यात्व-संबंधी दोषों से बचने और सम्यक्त्व की शुद्धि बनाये रखने के लिए नि:शंकतादि आठ अंग आदरणीय हैं।

—इस प्रकार सम्यक्त्व-संबंधी गुण-दोष को पहिचानकर अपने हित के लिए नि:शंकितादि आठ गुणसहित, शंकादिक पच्चीस दोषरहित शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करो—ऐसा उपदेश है।

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-9 (जनवरी-1972), वर्ष-27]

परम आनंदमय सहज तत्त्व को साधने की रीति

...पृष्ठ 15 का शेष

मत रखना। जगत के पंथ से चैतन्य का पंथ निराला है। चैतन्य-सुख का मार्ग अपने ही अंतर में समाया है, अपनी परिणति अपने में ही एकाग्ररूप से परम आनंद का अनुभव करती है, आनंद के लिए कहीं बाहर जगत की ओर नहीं देखना पड़ता। जहाँ तेरे अगाध निधान भरे हैं, वहाँ देखने से तुझे परम आनंदनिधान की प्राप्ति होगी। धर्मात्मा कहते हैं कि अरे, हमें अपना अपूर्व निधान मिला; इस निधान के निकट हम जगत को सदा तृणवत् देखते हैं। इस प्रकार जिन्हें अपने निधान की अचिंत्य महिमा आई है, वे ज्ञानी परम वैराग्य से शांतचित्त होकर गुणरूप से अपने आनंद-निधान का अकेले ही उपभोग करते हैं और स्वकार्य करते-करते मोक्ष को साधते हैं।

सिद्ध भगवंतों का पंथ तो एक शुद्धभावरूप ही है; शुद्धभाव से चलायमान मुनि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जीव चाहे जिस देश में चला जाए और चाहे जो करे, लेकिन शुद्धभाव के बिना वह कभी मोक्ष नहीं पा सकता; इसलिए सर्व प्रकार से शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है।

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-9 (जनवरी-1972), वर्ष-27]

आचार्यदेव परिचय शृंखला

भगवान आचार्यदेव
श्री दत्तजी

आचार्यवर भगवान श्रीदत्तजी भावलिंगी मुनि धर्मात्मा, अपने आत्मा में मस्त रहते हुए महान दार्शनिक आचार्य थे। आप दार्शनिक ही नहीं, पर वाद विद्या में भी पारंगत थे।

आचार्य विद्यानंदजी ने आपके 'जल्पनिर्णय' व 'वादन्याय विचक्षण' ग्रंथ का उल्लेख करते हुए, आपको 363 वादियों को जीतनेवाला बताया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यवर 'श्रीदत्त' बड़े तपस्वी और वादविजेता विद्वान थे। विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान भगवान आचार्य देवनंदी (पूज्यपाद) ने जैनेन्द्र व्याकरण में आचार्यवर 'श्रीदत्त'जी का नामोल्लेख किया है। वैसा ही भगवान आचार्य जिनसेनजी ने भी आपका नाम स्मरण किया है। इससे बहुत संभव है कि आचार्य जिनसेन और देवनंदी द्वारा उल्लिखित आचार्यवर 'श्रीदत्त' एक ही आचार्य हों। आदिपुराणकार ने चूँकि आचार्यवर 'श्रीदत्त' को तपःश्रीदीप्तमूर्ति और वादिरूपीगजों का प्रभेदक बतलाया है, इससे भी आचार्यवर 'श्रीदत्त'जी दार्शनिक विद्वान जान पड़ते हैं। जैनेन्द्र व्याकरण में जिन छह विद्वानों का उल्लेख किया है; उनमें केवल भूतबलि सिद्धांतशास्त्र के मर्मज्ञ थे। उनके अलावा सभी दार्शनिक विद्वान थे।

यद्यपि आपने स्वयं ने 'जल्पनिर्णय' व 'वादन्याय' के अलावा कोई विशेष उल्लेखनीय शास्त्र नहीं लिखा है, फिर भी कई शताब्दी तक महान शास्त्र रचयिता आचार्य पूज्यपाद स्वामी (अपरनाम देवनंदी), अष्टसहस्री के रचयिता आचार्यदेव विद्यानंदी, आदिपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन (द्वितीय) जैसे महान आचार्यों ने आपको बड़े पूज्यभाव से स्मरण किया है, वह आपके अंतर की विशुद्ध परिणति की अतिशयता को ही सूचित करता है।

आप ईसा की चौथी शताब्दी के मध्यपादवर्ती आचार्यदेव थे।

आचार्यदेव श्रीदत्तस्वामी को कोटि कोटि वंदन।

भगवान आचार्यदेव
श्री पूज्यपादस्वामी अपरनाम देवनंदि

भारतीय परंपरा में जो लब्धप्रतिष्ठित तत्त्वदृष्टा, शास्त्रकार हुए हैं, उनमें आचार्य पूज्यपाद का नाम प्रमुखरूप से लिया जाता है। इन्हें प्रतिभा और विद्वत्ता दोनों का समानरूप से वरदान प्राप्त था। जैन परंपरा में आचार्य समंतभद्र और सन्मति के कर्ता आचार्य सिद्धसेन के बाद साहित्यिक जगत में यदि किसी को उच्चपद पर बिठलाया जो सकता है, तो वे भगवान कुंदकुंदाचार्यवत् आचार्य पूज्यपाद हो सकते हैं। आपने अपने पीछे जो साहित्य छोड़ा है। उसका प्रभाव दिगंबर और श्वेतांबर दोनों परंपराओं में समानरूप से दिखाई देता है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती प्राय: अधिकतर साहित्यकारों व इतिहास मर्मज्ञों ने आपकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञता स्वीकार करते हुए आपके चरणों में श्रद्धा के सुमन अर्पित किये हैं।

शिलालेखों तथा दूसरे प्रमाणों से विदित होता है कि गुरु के द्वारा दिया हुआ आपका दीक्षानाम 'देवनंदि' था। बुद्धि की प्रखरता के कारण इन्हें 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहते थे और देवों के द्वारा आपके चरण युगल पूजे गये थे। इसलिए आप 'पूज्यपाद' इस नाम से लोक में प्रख्यात थे।

आचार्य पूज्यपाद मूलसंघ के अंतर्गत नंदिसंघ बलात्कार गण के पट्टाधीश थे तथा अन्य प्रमाणों से यह भी विदित होता है, कि आपका गच्छ 'सरस्वती' इस नाम से प्रख्यात था। हमारे प्रसिद्ध आचार्य कुंदकुंद और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) इसी परंपरा के पूर्ववर्ती आचार्य थे। यह भी इससे विदित होता है।

'कर्णाटक देश के कोले' नामक ग्राम के माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणी से पूज्यपाद का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालक को त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण से भी आपका नाम पूज्यपाद रखा गया, ऐसा इतिहासविदों का मानना है। माधवभट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैनधर्म स्वीकार कर लिया। उनके साले का नाम 'पाणिनी' था। उसे भी आपने ही जैन बनने को कहा। परंतु प्रतिष्ठा के ख्याल में वह जैन न होकर मुंडीकुंड ग्राम में

वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादस्वामी की कमलिनी नामक छोटी बहन हुई, वह गुणभट्ट को ब्याही गई और गुणभट्ट को उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादजी ने विवाह न करके बचपन में ही जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। पश्चात् आपने एक बगीचे में एक साँप के मुँह में फँसे हुए मेंढ़क को देखा। इससे आपको वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये। पाणिनी अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था। उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया जानकर पूज्यपाद से कहा, कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया। पाणिनी दुर्भाग्यवश मरकर सर्प हुए। एकबार उसने पूज्यपाद को देखकर फूत्कार किया। इस पर पूज्यपाद ने कहा—'विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरण को पूरा कर दूँगा।' इसके बाद उन्होंने 'पाणिनी व्याकरण' को पूरा कर दिया।

पूज्यपादस्वामी अनेकबार विदेहक्षेत्र गये थे व आपने अनेक तीर्थों की यात्रा भी की थी।

आपके शिष्य वज्रनंदि थे। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शांत्यष्टक बनाकर ज्यों की त्यों दृष्टि प्राप्त कर ली। (इस बात की सत्यता में विविधमत हैं)। एक बात स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद 'पाणिनी व्याकरण', उसके वार्तिक और महाभाष्य के मर्मज्ञ थे। पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक आत्मध्यानरूप योगमय सारपद का अभ्यास करते रहे। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राम में आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

पूज्यपाद आचार्य द्वारा लिखित अब तक निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—(1) दशभक्ति, (2) जन्माभिषेक, (3) तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), (4) समाधितंत्र, (5) इष्टोपदेश, (6) जैनेन्द्रव्याकरण, (7) सिद्धिप्रिय-स्तोत्र।

आचार्य देवनंदि-पूज्यपाद का समय ईसु की पाँचवी शताब्दी का मध्यपाद सिद्ध होता है, जो सर्वमान्य है।

महान आचार्यदेव श्री पूज्यपादस्वामी भगवंत को कोटि कोटि वंदन।

उपदेश सिद्धांत रत्नमाला

कषायी व कीर्ति इच्छुक के धर्म नहीं होता

आणा रहिअं कोहाइ, संजुअं अप्पसंसणत्थं च।
धम्मं सेवंताणं, णय कित्ती णेय धम्मं च॥55॥

भावार्थ - जो जीव अपनी बड़ाई आदि के लिए धर्म का सेवन करते हैं, उन्हें बड़ाई तो मिलती ही नहीं कषाय संयुक्त होने से धर्म भी नहीं होता। अत: धर्म का सेवन निरपेक्ष होकर ही करना चाहिए॥55॥

उत्सूत्रभाषी के दु:ख जिननाथ ही जानते हैं

इयरजण संसणाए, धिद्धी उस्सूत्त भासिए ण भयं।
हा! हा! ताण णराणं, दुहाइ जइ मुणइ जिणणाहो॥56॥

भावार्थ - थोड़े से दिनों की मान-बड़ाई के लिए जो जीव अन्य मूर्खों के कहने से जिनसूत्र के विरुद्ध उपदेश देता है, वह अनंत काल तक निगोदादि के दु:ख पाता है, इसलिए जिनसूत्र के अनुसार ही यथार्थ उपदेश देना योग्य है॥56॥

धीर पुरुष कदापि उत्सूत्रभाषी नहीं होते

उस्सूत्त भासियाणं, बोही णासो अणंत संसारो।
पाणव्वए वि धीरा, उस्सूत्तता ण भासंति॥57॥

अर्थ - जो जीव जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देते हैं, उनके सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति रूपी बोधि का नाश हो जाता है और अनंत संसार बढ़ जाता है, इसलिए प्राणों का नाश होते भी धीर पुरुष तो जिनसूत्र के विरुद्ध कदापि नहीं बोलते॥57॥

मिथ्यादृष्टियों की कदापि प्रशंसा न करना

मुद्धाण रंजणत्थं, अविहि पसंसं कयावि ण करिज्जं।
किं कुलबहुणो कत्थ वि, थुणंति वेस्साण चरियाइं॥58॥

अर्थ - मूर्खों को प्रसन्न करने के लिए मिथ्यादृष्टियों के विपरीत आचरण की कदापि प्रशंसा करनी योग्य नहीं है क्योंकि कुलवधू क्या कभी भी वेश्याओं के चारित्र की प्रशंसा करती है अपितु कभी नहीं करती॥58॥

जिनाज्ञा भंग का किसे भय है वा किसे नहीं

जिण आणा भंगभयं, भवभयभीआण होइ जीवाणं।
भवभय अभीरुयाणं, जिण आण भंजणं क्रीड़ा॥59॥

अर्थ – जो जीव संसार से भयभीत हैं, उन्हें जिनराज की आज्ञा भंग करने का भय होता है और जिन्हें संसार का भय नहीं है, उनके जिन आज्ञा भंग करना खेल है॥59॥

जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान

को असुआणं दोसो, जं सुअ सुहियाण चेयणा णट्ठा।
धिद्धि कम्माण जओ, जिणो वि लद्धो अलद्धति॥60॥

भावार्थ – जैनकुल में उत्पन्न हुए कितने ही जीव नाममात्र के तो जैनी कहलाते हैं किंतु वे जिनदेव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते और कितने ही जीव शास्त्राभ्यास भी करते हैं परंतु वे भी अच्छी तरह से उपयोग लगाकर देवादि के स्वरूप का निर्णय नहीं करते सो यह उनके तीव्र पाप का ही उदय है जो निमित्त मिलने पर भी वे यथार्थ जिनमत को नहीं पा सके॥60॥

स्वधर्म में उपहास तो सर्वथा न करना

इयराण वि उवहासं, तमजुत्तं भाय कुलपसूआणं।
एस पुण कोवि अग्गी, जं हासं सुद्ध धम्मम्मि॥61॥

भावार्थ – हास्य करना तो सर्वत्र ही पाप है परंतु जो जीव धर्म में हास्य करते हैं, उन्हें महापाप होता है॥61॥

शुद्ध हृदय वाले पुरुषों का स्वभाव

दोसो जिणिंद वयणे, संतोसो जाण मिच्छपावम्मि।
ताणं पि सुद्ध हियया, परमहियं दाउमिच्छंति॥62॥

भावार्थ – सज्जन पुरुष तो महा मिथ्यादृष्टियों के भी भले ही का उपदेश देते हैं, परंतु उनका भला होना न होना तो भवितव्य के आधीन है॥62॥

विष उगलते हुए सर्प के प्रति भी करुणा

अहवा सरल सहावो, सुअणा सव्वत्थ हुंति अवियप्पा।
छंडंति विसभरण वि, कुणंति करुणा दुहाहाणं॥63॥

अर्थ – अथवा सरल स्वभावी सज्जन पुरुष सभी जीवों के प्रति समान भाव रखते हैं, किसी का भी बुरा नहीं चाहते। वे तो विष के समूह को उगलते हुए सर्प के प्रति भी दयाभाव रखते हैं, सो ऐसा सज्जनपना सम्यग्दृष्टियों में ही होता है॥63॥

समाचार-दर्शन

'सूरिमंत्र का सच' संगोष्ठी सानंद संपन्न

सिंगोली : दिनांक 27 एवं 28 अक्टूबर 2018 को वेदी एवं शिखर शिलान्यास महोत्सव के अवसर पर यह सूरिमंत्र का सच संगोष्ठी सानंद संपन्न हुई।

कुछ अनधिकृत लोगों द्वारा अनधिकृत वक्तव्य देकर जैन समाज को तोड़ने का कुत्सित प्रयास किया जा रहा है वह बहुत ही निन्दनीय है। ऐसा ही एक वक्तव्य कुछ दिन पूर्व आया था कि—'भले ही बिना दर्शन के भोजन कर लेना किन्तु जिस प्रतिमा को मुनिराज ने सूरिमंत्र न दिया हो वह प्रतिमा स्टेच्यू है। उसके दर्शन नहीं करना।' इस तरह के जब फरमान जारी हुए तो समाज को सच का सामना कराना अत्यन्त आवश्यक हो गया। उसी के फलस्वरूप आगम में सूरिमंत्र का क्या अभिप्राय है ? कौन इसके देने का अधिकारी है ? इस विषय पर विशिष्ट संगोष्ठी पंडित रजनीभाई दोशी हिम्मतनगर के कुशल संचालन में संपन्न हुई। संगोष्ठी की अध्यक्षता ख्यातिप्राप्त विद्वान पंडित वीरेन्द्र जैन आगरा द्वारा की गई एवं लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. राकेशजी नागपुर, डॉ. योगेशजी अलीगंज एवं पंडित देवेन्द्र जैन बिजौलिया ने सम्पूर्ण समाज के समक्ष आगाम के आधार से 'सूरिमंत्र का सच' विषय का मार्मिक स्पष्टीकरण किया। संपूर्ण समाज ने इस संगोष्ठी की भरपूर सराहना की और उन्होंने अपने मन की शंकाओं का समाधान भी प्राप्त किया।

इस सफल आयोजन के लिए पंडित देवेन्द्र जैन बिजौलिया विशेष धन्यवाद के प्राप्त हैं। जिनके प्रयासों से यह संगोष्ठी संपन्न हुई। यह महत्त्वपूर्ण विषय जन-जन का विषय बना और लोगों के मन में सत्य को जानने की जिज्ञासा हुई। अवश्य ही सम्पूर्ण जैन समाज इस सत्य को जानकर अपने मोक्षमार्ग को प्रशस्त करेगा।

समाचार प्रेषक - अमित जैन अरिहंत मड़ावरा

वैराग्य समाचार

इन्दौर : श्रीमती माणकबाई काला के देहपरिवर्तन शान्त परिणामों से हो गया है। आप स्व० श्री मनोहरलालजी काला की धर्मपत्नी थीं।

देहरादून : श्री सुरेन्द्रकुमार जैन देहरादून का देहपरिवर्तन हो गया।

इस प्रसंग पर तीर्थधाम मंगलायतन परिवार उनके शीघ्र मोक्षगमन की कामना करता है।

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन सत्र 19-20 प्रवेश प्रारंभ

(फार्म जमा करने की अन्तिम तिथि - 15 फरवरी 2019)

सद्धर्म प्रेमी बन्धुवर सादर जयजिनेन्द्र

प्रत्येक वर्ष की भाँति इस वर्ष भी भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन मङ्गलायतन में प्रवेश प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी है। वर्तमान युग में अपने कोमलमति बालक और युवाओं में धर्म, संस्कार एवं नैतिक शिक्षा के साथ उच्च शिक्षा देना चाहते हो तो अवश्य ही 15 फरवरी 2019 तक अपने प्रवेश फार्म मङ्गलायतन ऑफिस में जमा करायें।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा संचालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन लगातार उन्नति के शिखर को छू रहा है। यहाँ से निकले मङ्गलार्थी उच्च स्तर की प्रशासनिक एवं राष्ट्रीय सेवाएँ देते हुए समाज को तत्त्वज्ञान की शिक्षा दे रहे हैं। स्व-पर कल्याण करते हुए वीतरागी जिनमार्ग को घर-घर पहुँचा रहे हैं।

यदि आप भी चाहते हैं कि आज की पीढ़ी पाप के दलदल में न फँसे, सन्तोषपूर्वक आत्मकल्याण करते हुए अपना जीवन सफल करे तो अवश्य ही भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन में अपने बालकों का प्रवेश करायें।

प्रवेश के योग्य अभयार्थी की पात्रता

(1) सातवीं कक्षा में कम से कम 60 प्रतिशत अंक से पास हो। (2) फार्म भरते समय छठी कक्षा में भी कम से कम 60 प्रतिशत अंक हों। (3) सातवीं कक्षा में अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ता हो। (4) शरीर में कोई असाध्य रोग न हो। (5) जैन धर्मानुसार अभक्ष्य भक्षण नहीं करता हो। (6) जैन धर्म पढ़ने की रुचि रखता हो।

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन की विशेषताएँ

(1) पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उद्घाटित वीतरागी तत्त्वज्ञान का गहरा अध्ययन। (2) धार्मिक, नैतिक, सांस्कारिक, सामाजिक, लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक, सैद्धांतिक आदि विद्याध्ययन करने का अवसर। (3) भारत के उच्चतम स्कूल डी.पी.एस. में पढ़ने का अवसर। (4) विश्व के प्रसिद्ध विद्वानों से अध्ययन करने का अवसर। (5) चहुँमुखी प्रतिभा एवं विकास के साधन (6) डी.पी.एस. के माध्यम से विश्वस्तरीय खेल, प्रतिस्पर्धा एवं व्यक्तित्व विकास का अवसर। (7) खेल एवं संगीत शिक्षा की विशेष व्यवस्था। (8) मङ्गलायतन द्वारा देश-विदेश में तत्त्वज्ञान आराधना / प्रभावना करने का अवसर। (9) आगामी उच्चस्तरीय शिक्षा की पूर्व में ही विशेष कोचिंग की व्यवस्था। (10) आत्मसम्मान एवं जिनधर्म की शिक्षापूर्वक उच्च आजीविका का अवसर।

शीघ्र ही आप अपने बालकों का फार्म भरकर, तीर्थधाम मङ्गलायतन के पते पर कोरियर द्वारा 700 रुपये के ड्राफ्ट द्वारा भेजें।

कोरियर भेजने का पता — भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरा रोड, अलीगढ़ - 202001 (उ.प्र.)

मोबा : 9997996346, 9756633800, 9897069969, 9027768528

ल आमंत्रण
अवश्य प
ी 1008 शांतिनाथ कुन्द-कुन्द कहान दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंदिर ट्रस्ट गौरझा
द्वारा
श्री 1008 नेमिनाथ जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा
महा महोत्सव का आयोजन
दिनांक- 19 दिसम्बर बुधवार से 24 दिसम्बर 2018 सोमवार तक
सागर, केसली, करेली, गढ़ाकोटा के संयुक्त तत्वाधान में
सम्पन्न होने जा रहा है
प्रतिष्ठाचार्य- बाल ब्र.अभिनंदन जी शास्त्री, बाल ब्र. नन्हें भैया सागर
निर्देशक- पं. अभय जी देवलाली, पं. शांतिकुमार पाटिल, जयपुर, पं. संजय शास्त्री, मंगलायतन
अध्यक्ष- सेठ सुखदयाल डेवड़िया, कार्यकारी अध्यक्ष- महेन्द्र गंगवाल, जयपुर, कार्याध्यक्ष- सुनील सरा
संपर्क सूत्र-
संजय (बन्टू)- 8770582255, वैभव भैया- 9827812183, पं. सचिन्द शास्त्री- 7581060200
पता- बस स्टेण्ड के पास, देवरी रोड, गौरझामर जि.सागर (म.प्र.)

ॐ || जय जिनेन्द्र || ॐ
गोपाचल सिद्धक्षेत्र से प्रसिद्ध,
ऐतिहासिक नगरी ग्वालियर में,
तिघरा दिगम्बर जैन मंदिर का
आचार्यकुन्दकुन्ददेव
पूज्य गुरुदेवश्री
श्री १००८ पार्श्वनाथ पंचकल्याणक
प्रतिष्ठा महामहोत्सव
दिनाँक- 16 जनवरी से 21 जनवरी 2019
स्थान - काशी नगरी (ग्वालियर)
प्रतिष्ठाचार्य - बा.ब्र.प.श्री अभिनन्दन कुमार जी
निर्देशक - तीर्थधाम मंगलायतन
आयोजक - श्री पार्श्वनाथ पंचकल्याणक समिति, ग्वालियर
तत्तवाधान - श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, ग्रेटर ग्वालियर
आप सभी से निवेदन है कि सभी लोग इस महामहोत्सव में बढ़चढ़ कर भाग ले और पुण्य अर्जित करें।
सभी लोग अपने परिवार गण को एवं इष्ट मित्रों को इस पावन प्रसंग में जोड़ें। इन्द्र इन्द्राणी,
राजा रानी, लोकान्तिक देव, अष्ट देवी आदि पदों को लेकर अपना भाग्य जगाएं।

36 प्रकाशन तिथि - 14 नवम्बर 2018 पोस्ट प्रेषण तिथि - 16-18 नवम्बर 2018
Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा **मङ्गलायतन** मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन।

मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
Shri Adinath-Kundkund-Kahan Digamber Jain Trust
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202001 (U.P.)
Ph. : 9997996346, 2410010/10; Fax : 2410019/22
info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com